जैन-धर्म में पूजा-विधान और धार्मिक अनुष्ठान

पूजाविधान, अनुष्ठान और कर्मकाण्डपरक साधनाएँ प्रत्येक तांत्रिक उपासना-पद्धति के अनिवार्य अंग हैं। कर्मकाण्डपरक अनुष्ठान और पूजा विधान उसका शरीर है, तो आध्यात्म-साधना उसका प्राण है। भारतीय धर्मों में प्राचीनकाल से ही हमें ये दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती हैं। जहाँ प्रारम्भिक वैदिक धर्म कर्मकाण्डात्मक अधिक रहा है, वहीं प्राचीन श्रमण-परम्पराएँ आध्यात्मिक साधनात्मक अधिक रहीं हैं।

जैन-परम्परा मूलत: श्रमण परम्परा का ही एक अंग है और इसलिए यह भी अपने प्रारम्भिक रूप में कर्मकाण्ड की विरोधी एवं आध्यात्मिक साधना-प्रधान रही है मात्र यही नहीं उत्तराध्ययनसूत्र जैसे प्राचीन जैन-ग्रन्थों में स्नान, हवन, यज्ञ आदि कर्मकाण्ड का विरोध ही परिलक्षित होता है। उत्तराध्ययनसूत्र की यह विशेषता है कि उसने धर्म के नाम पर किये जाने वाले इन कर्मकाण्डों एवं अनुष्ठानों को एक आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान किया है। तत्कालीन ब्राह्मण-वर्ग ने यज्ञ, श्राद्ध और तर्पण के नाम पर कर्मकाण्डों एवं अनुष्ठानों के माध्यम से सामाजिक शोषण की जो प्रक्रिया प्रारम्भ की थी, जैन और बौद्ध परम्पराओं ने उनका खुला विरोध किया और इस विरोध में उन्होंने इन सबको एक नया अर्थ प्रदान किया। भारतीय अनुष्ठानों और कर्मकाण्डों में यज्ञ, स्नान आदि अति प्राचीनकाल से प्रचलित रहे हैं। उत्तराध्ययनसूत्र[१] में यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप का विवेचन उपलब्ध होता है उसमें कहा गया है कि "जो पाँच संवरों से पूर्णतया सुसंवृत हैं अर्थात् इन्द्रियजयी हैं जो जीवन के प्रति अनासक्त हैं, जिन्हें शरीर के प्रति ममत्वभाव नहीं है, जो पवित्र हैं और जो विदेह भाव में रहते हैं, वे आत्मजयी महर्षि ही श्रेष्ठ यज्ञ करते हैं। उनके लिए तप ही अग्नि है, जीवात्मा अग्निकुण्ड है। मन, वचन और काय की प्रवृत्तियाँ ही कलछी (चम्मच) हैं और कर्मों (पापों) का नष्ट करना ही आहुति है। यही यज्ञ संयम से युक्त होने के कारण शान्तिदायक और सुखकारक है। ऋषियों ने ऐसे ही यज्ञों की प्रशंसा की है।" स्नान के आध्यात्मिक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसमें कहा गया है- धर्म ही ह्रद (तालाब) है, ब्रह्मचर्य तीर्थ (घाट) है और अनाकुल दशारूप आत्म प्रसन्नता ही जल है, जिसमें स्नान करने से साधक दोषरहित होकर विमल एवं विशुद्ध हो जाता है।[२]

बुद्ध ने भी अंगुत्तरनिकाय के सुत्तनिपात में यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप का विवेचन किया है। उसमें उन्होंने बताया है कि कौन सी अग्नियाँ त्याग करने योग्य हैं और कौन सी अग्नियाँ सत्कार करने योग्य हैं। वे कहते हैं कि "कामाग्नि, द्वेषाग्नि और मोहाग्नि त्याग करने योग्य है और आह्वनीयाग्नि, गार्हपत्याग्नि और दक्षिणाग्नि अर्थात् माता-पिता की सेवा, पत्नी और सन्तान की सेवा तथा श्रमण-ब्राह्मणों की सेवा करने योग्य है।[३] महाभारत के शान्तिपर्व और गीता में भी यज्ञों के ऐसे ही आध्यात्मिक और सेवापरक अर्थ किये गये हैं।

इससे स्पष्ट है कि जैन-परम्परा ने प्रारम्भ में धर्म के नाम पर किये जाने वाले कर्मकाण्डों का विरोध किया और अपने उपासकों तथा साधकों को ध्यान, तप आदि की अध्यात्मिक साधना के लिए प्रेरित किया। साथ ही साधना के क्षेत्र में किसी देवी-देवता की उपासना एवं उससे किसी प्रकार की सहायता या कृपा की अपेक्षा को अनुचित ही माना। जैन-धर्म के प्राचीनतम ग्रंथों में हमें धार्मिक कर्मकाण्डों एवं विधि-विधानों के सम्बन्ध में केवल तप एवं ध्यान की विधियों के अतिरिक्त अन्य कोई उल्लेख नहीं मिलता है। पार्श्वनाथ ने तो तप के कर्मकाण्डात्मक स्वरूप का भी विरोध किया था। आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध का नवाँ अध्ययन महावीर की जीवनचर्या के प्रसंग में उनकी ध्यान एवं तप-साधना की पद्धति का उल्लेख करता है। इसके पश्चात् आचारांगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध, दशवैकालिक सूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र, आदि ग्रंथों में हमें मुनि-जीवन से सम्बन्धित भिक्षा, आहार, निवास एवं विहार सम्बन्धी विधि- विधान मिलते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र के तीसवें अध्याय में तपस्या के विविध रूपों की चर्चा भी हमें उपलब्ध होती है। इसी प्रकार की तपस्याओं की विविध चर्चा हमें अन्तकृत्दशा में भी उपलब्ध होती है, जो कि उत्तराध्ययनसूत्र के तप सम्बन्धी उल्लेखों की अपेक्षा परवर्ती एवं अनुष्ठानपरक है। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि अंतगडदसाओ (अंतकृत्दशा) का वर्तमान स्वरूप ईसा की ५वीं शताब्दी के पश्चात् का ही है। उसमें आठवें वर्ग में गुणरत्नसंवत्सरतप, रत्नावलीतप, लघुसिंहक्रीड़ातप, कनकावलीतप, मुक्तावलीतप, महासिंहनिष्क्रीडिततप, सर्वतोभद्रतप, भद्रोत्तरतप, महासर्वतोभद्रतप और आयम्बिलवर्धमानतप आदि के उल्लेख मिलते हैं। हरिभद्र ने तप-पंचाशक में आगमानुकूल उपर्युक्त तपों की चर्चा के साथ ही कुछ लौकिक व्रतों एवं तपों की भी चर्चा की है जो तांत्रिक साधनों के प्रभाव से जैन-धर्म में विकसित हुए थे।

षडावश्यकों का विकास

जहाँ तक जैन श्रमण साधकों के नित्यप्रति के धार्मिक कृत्यों का सम्बन्ध है, हमें ध्यान एवं स्वाध्याय, के ही उल्लेख मिलते हैं। उत्तराध्ययन के अनुसार मुनि दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय में ध्यान, तृतीय में भिक्षाचर्या और चतुर्थ में पुन: स्वाध्याय करे। इसी प्रकार रात्रि के चार प्रहरों मे भी प्रथम में स्वाध्याय, द्वितीय में ध्यान, तृतीय में निद्रा और चतुर्थ में पुन: स्वाध्याय करे। नित्य-कर्म के सम्बन्ध में प्राचीनतम उल्लेख 'प्रतिक्रमण' अर्थात्-अपने दुष्कर्मों की समालोचना और प्रायश्चित्त के मिलते हैं। पार्श्वनाथ और महावीर की धर्मदेशना का एक मुख्य अन्तर प्रतिक्रमण की अनिवार्यता रही है। महावीर के धर्म को सप्रतिक्रमण धर्म कहा गया है। महावीर के धर्मसंघ के सर्वप्रथम प्रतिक्रमण एक दैनिक अनुष्ठन बना। इसी से षडावश्यकों की अवधारणा का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विकास हुआ। आज भी प्रतिक्रमण षडावश्यकों के साथ किया जाता है। श्वेताम्बर-परम्परा के आवश्यकसूत्र एवं दिगम्बर और यापनीय-परम्परा के मूलाचार[४] में इन षडावश्यकों के उल्लेख हैं। ये षडावश्यक कर्म हैं- सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, गुरुवंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग (ध्यान) और प्रत्याख्यान। यद्यपि प्रारम्भ में इन षडावश्यकों का सम्बन्ध मुनि-जीवन से ही था, किन्तु आगे चलकर उनको गृहस्थ उपासकों के लिए भी आवश्यक माना गया। आवश्यकनिर्युक्ति[५] में वंदन कायोत्सर्ग आदि की विधि एवं दोषों की जो चर्चा है, उससे इतना अवश्य फलित होता है कि क्रमश: इन दैनन्दिन क्रियाओं को भी अनुष्ठानपरक बनाया गया था। आज भी एक रूढ़ क्रिया के रूप में ही षडावश्यकों को सम्पन्न किया जाता है।

जहाँ तक गृहस्थ उपासकों के धार्मिक कृत्यों या अनुष्ठानों का प्रश्न है, हमें उनके सम्बन्ध में भी ध्यान एवं उपोषथ या प्रौषध विधि के ही प्राचीन उल्लेख उपलब्ध होते हैं। उपासकदशासूत्र में शकडालपुत्र एवं कुण्डकौलिक के द्वारा मध्याह्न में अशोकवन में शिलापट्ट पर बैठकर उत्तरीय वस्त्र एवं आभूषण उतारकर महावीर की धर्मप्रज्ञप्ति की साधना अर्थात् सामायिक एवं ध्यान करने का उल्लेख है। बौद्ध-त्रिपिटक साहित्य से यह ज्ञात होता है कि निर्ग्रंथ श्रमण अपने उपासकों को ममत्वभाव का विसर्जनकर कुछ समय के लिए समभाव एवं ध्यान की साधना करवाते थे। इसी प्रकार भगवतीसूत्र में भोजनोपरान्त अथवा निराहार रहकर श्रावकों के द्वारा प्रौषध करने के उल्लेख मिलते हैं। त्रिपिटक में बौद्धों ने निर्ग्रंथों के उपोषथ की आलोचना भी की है। इससे यह बात पुष्ट होती है कि सामायिक, प्रतिक्रमण एवं प्रौषध की परम्परा महावीरकालीन तो है ही।

सूत्रकृतांगसूत्र में महावीर की जो स्तुति उपलब्ध होती है, वह सम्भवत: जैन-परम्परा में तीर्थंकरों के स्तवन का प्राचीनतम रूप है। उसके बाद कल्पसूत्र, भगवतीसूत्र एवं राजप्रश्नीयसूत्र में हमें वीरासन के शक्रस्तव (नमोत्थुणं) का पाठ करने का उल्लेख प्राप्त होता है। दिगम्बर-परम्परा में आज वंदन के अवसर पर जो 'नमोऽस्तु' कहने की परम्परा है वह इसी 'नमोत्थुणं' का संस्कृत रूप है। दुर्भाग्य से दिगम्बर-परम्परा में यह प्राकृत का सम्पूर्ण पाठ सुरक्षित नहीं रह सका। चतुर्विंशतिस्तव का एक रूप आवश्यकसूत्र में उपलब्ध है, इसे 'लोगस्स' का पाठ भी कहते हैं। यह पाठ कुछ परिवर्तन के साथ दिगम्बर-परम्परा के ग्रंथ तिलोयपण्णत्ति में भी उपलब्ध है। तीन आवर्तों के द्वारा 'तिक्खुत्तो' के पाठ से तीर्थंकर गुरु एवं मुनि-वंदन की प्रक्रिया भी प्राचीनकाल में प्रचलित रही है। अनेक आगमों में तत्सम्बन्धी उल्लेख हैं। श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित 'तिखुत्तो' के पाठ का भी एक परिवर्तित रूप हमें षट्खण्डागम के कर्म अनुयोगद्वार के २८वें सूत्र में मिलता है। तुलनात्मक अध्ययन के लिए दोनों पाठ विचारणीय हैं। गुरुवंदन के लिए 'खमासमना' के पाठ की प्रक्रिया उसकी अपेक्षा परवर्ती है। यद्यपि यह पाठ आवश्यकसूत्र जैसे अपेक्षाकृत प्राचीन आगम में मिलता है, फिर भी इसमें प्रयुक्त क्षमाश्रमण या क्षपकश्रमण (खमासमणो) शब्द के आधार पर इसे चौथी, पाँचवीं शती के लगभग का माना जाता है। क्योंकि तब से जैनाचार्यों के लिए 'क्षमाश्रमण' पद का प्रयोग होने लगा था। गुरुवंदन पाठों से ही चैत्यों का निर्माण होने पर चैत्यवंदन का विकास हुआ और चैत्यवंदन की विधि को लेकर अनेक स्वतंत्र ग्रंथ भी लिखे गये है।

जिनपूजा-विधि का विकास

इसी स्तवन एवं वंदन की प्रक्रिया का विकसित रूप जिन-पूजा में उपलब्ध होता है, जो कि जैन-अनुष्ठान का महत्त्वपूर्ण एवं अपेक्षाकृत प्राचीन अंग है। वस्तुत: वैदिक यज्ञ-यागपरक कर्मकाण्ड की विरोधी जनजातियों एवं भक्तिमार्गी परम्पराओं में धार्मिक अनुष्ठान के रूप में पूजा-विधि का विकास हुआ था और श्रमण-परम्परा में तपस्या और ध्यान का। यक्षपूजा के प्राचीनतम उल्लेख जैनागमों में उपलब्ध हैं। फिर इसी भक्तिमार्गीधारा का प्रभाव जैन और बौद्ध धर्मों पर भी पड़ा और उनमें तप, संयम एवं ध्यान के साथ जिन एवं बुद्ध की पूजा की भावना विकसित हुई। परिणामत: सर्वप्रथम स्तूप, चैत्य-वृक्ष आदि के रूप में प्रतीक-पूजा प्रारम्भ हुई, फिर सिद्धायतन (जिनमन्दिर) आदि बने और बुद्ध एवं जिन-प्रतिमाओं की पूजा होने लगी। फलत: जिन-पूजा एवं दान को गृहस्थ का मुख्य कर्त्तव्य माना गया। दिगम्बर-परम्परा में तो गृहस्थ के लिए प्राचीन षडावश्यकों के स्थान पर निम्न षट् दैनिक कृत्यों की कल्पना की गयी—जिन-पूजा, गुरु-सेवा; स्वाध्याय, तप, संयम एवं दान।

हमें आचारांगसूत्र, सूत्रकृतांगसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र, भगवतीसूत्र, आदि प्राचीन आगमों में जिन-पूजा की विधि का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। अपेक्षाकृत परवर्ती आगमों-स्थानांग आदि में जिन-प्रतिमा एवं जिनमन्दिर (सिद्धायतन) के उल्लेख तो हैं, किन्तु उनमें भी पूजा सम्बन्धी किसी अनुष्ठान की चर्चा नहीं है। जबकि 'राजप्रश्नीयसूत्र' में सूर्याभदेव और ज्ञाताधर्मकथा में द्रौपदी के द्वारा जिन-प्रतिमाओं के पूजन के उल्लेख हैं। राजप्रश्नीय के वे अंश जिसमें सूर्याभदेव के द्वारा जिन-प्रतिमा-पूजन एवं जिन के समक्ष नृत्य, नाटक, गान आदि के जो उल्लेख हैं, वे ज्ञाताधर्मकथा से परवर्ती हैं और गुप्तकाल के पूर्व के नहीं हैं। चाहे 'राजप्रश्नीयसूत्र' का प्रसेनजित-सम्बन्धी कथा पुरानी हो, किन्तु सूर्याभदेव सम्बन्धी कथा-प्रसंग में जिनमन्दिर के पूर्णत: विकसित स्थापत्य के जो संकेत हैं, वे उसे गुप्तकाल से पूर्व का सिद्ध नहीं करते हैं। फिर भी यह सत्य है कि जिन-पूजा-विधि का इससे विकसित एवं प्राचीन उल्लेख श्वे० परम्परा के आगम-साहित्य में अन्यत्र नहीं है।

दिगम्बर-परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द ने भी रयणसार में दान और पूजा को गृहस्थ का मुख्य कर्तव्य माना है, वे लिखते हैं-

दाणं पूजा मुक्ख सावयधम्मे ण सावया तेण विणा।
झाणज्झयणं मुक्ख जइ धम्मे ण तं विणा सो वि।।[६]

अर्थात् गृहस्थ के कर्तव्यों में दान और पूजा मुख्य और यति/श्रमण के कर्तव्यों में ध्यान और स्वाध्याय मुख्य हैं। इस प्रकार उसमें भी पूजा सम्बन्धी अनुष्ठानों को गृहस्थ के कर्तव्य के रूप में प्रधानता मिली। परिणामत: गृहस्थों के लिए अहिंसादि अणुव्रतों का पालन उतना महत्त्वपूर्ण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं रह गया, जितना पूजा आदि के विधि-विधानों को सम्पन्न करना। प्रथम तो पूजा को कृतिकर्म (सेवा) का एक रूप माना गया, किन्तु आगे चलकर उसे अतिथिसंविभाग का अंग बना दिया गया।

दिगम्बर परम्परा में भी जैन-अनुष्ठानों का उल्लेख सर्वप्रथम हमें कुन्दकुन्द-रचित 'दस भक्तियों' में एवं यापनीय-परम्परा में मूलाचार के षडावश्यक अध्ययन में मिलता है। जैन-शौरसेनी में रचित इन सभी भक्तियों के प्रणेता कुन्दकुन्द हैं- यह कहना कठिन है, फिर भी कुन्दकुन्द के नाम से उपलब्ध भक्तियों में से पाँच पर प्रभाचन्द्र की 'क्रियाकलाप' नामक टीका है। अत: किसी सीमा तक इनमें से कुछ के कर्ता के रूप में कुन्दकुन्द (लगभग पाँचवीं शती) को स्वीकार किया जा सकता है। दिगम्बर-परम्परा में संस्कृत भाषा में रचित 'बारह भक्तियाँ' भी मिलती हैं। इन सब भक्तियों के मुख्यत: पंचपरमेष्ठि-तीर्थंकर, सिद्ध, आचार्य, मुनि एवं श्रुत आदि की स्तुतियाँ हैं। श्वेताम्बर-परम्परा में जिस प्रकार नमोत्थुणं (शक्रस्तव), लोगस्स (चतुर्विंशतिस्तव), चैत्यवंदन आदि उपलब्ध हैं, उसी प्रकार दिगम्बर-परम्परा में भी ये भक्तियाँ उपलब्ध हैं। इनके आधार पर ऐसा लगता है कि प्राचीनकाल में जिन-प्रतिमाओं के सम्मुख केवल स्तवन आदि करने की परम्परा रही होगी। वैसे मथुरा से प्राप्त कुषाणकालीन पुरातत्त्वीय अवशेषों में कमल के द्वारा जिन-प्रतिमा के अर्चन के प्रमाण मिलते हैं, इसकी पुष्टि 'राजप्रश्नीयसूत्र' से भी होती है। यद्यपि भावपूजा के रूप में स्तवन की यह परम्परा-जो कि जैन-अनुष्ठान-विधि का सरलतम एवं प्राचीनरूप है, आज भी निर्विवाद रूप से चली आ रही है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराएँ मुनियों के लिए तो केवल भावपूजा अर्थात् स्तवन का ही विधान करती हैं, द्रव्यपूजा का विधान तो मात्र गृहस्थों के लिए ही है। मथुरा के कुषाणकालीन जैन-अंकनों में मुनि को स्तुति करते हुए एवं गृहस्थों को कमलपुष्प से पूजा करते हुए प्रदर्शित किया गया है। यद्यपि पुष्प-जैसे सचित्त द्रव्य से पूजा करना जैन धर्म के सूक्ष्म अहिंसा सिद्धान्त के प्रतिकूल कहा जा सकता है, किन्तु दूसरी शती से यह प्रचलित रही-इससे इंकार नहीं किया जा सकता। पाँचवीं शती या उसके बाद के सभी श्वेताम्बर एवं दिगम्बर ग्रन्थों में इसके उल्लेख उपलब्ध हैं। इस सम्बन्ध में विशेष चर्चा आगे की गई है।

द्रव्यपूजा के सम्बन्ध में राजप्रश्नीयसूत्र में वर्णित सूर्याभदेव द्वारा की जाने वाली पूजा-विधि आज भी (श्वेताम्बर परम्परा में) उसी रूप में प्रचलित है। उसमें प्रतिमा के प्रमार्जन, स्नान, अंगप्रोच्छन, गंध विलेपन, अथवा गंध,माल्य, वस्त्र आदि के अर्पण के उल्लेख हैं। राजप्रश्नीयसूत्र में उल्लिखित पूजा-विधि भी जैन-परम्परा में एकदम विकसित नहीं हुई है। स्तवन से चैत्यवंदन और चैत्यवंदन से पुष्प आदि से द्रव्य अर्चा प्रारम्भ हुई। यह सम्भव है कि जिनमन्दिरों और जिनबिम्बों के निर्माण के साथ, ही हिन्दू-परम्परा के प्रभाव से जैनों में भी द्रव्यपूजा प्रचलित हुई होगी। फिर क्रमश: पूजा की सामग्री में वृद्धि होती गई और अष्टद्रव्यों से पूजा होने लगी। डॉ० नेमिचन्द शास्त्री के शब्दों में- "पूजन-सामग्री के विकास की एक सुनिश्चित परम्परा हमें जैन-वाङ्मय में उपलब्ध होती है। आरम्भ में पूजन-विधि केवल पुष्पों द्वारा सम्पन्न की जाती थी, फिर क्रमश: धूप, चंदन ओर नैवेद्य आदि पूजा-द्रव्यों का विकास हुआ"।[७] पद्मपुराण, हरिवंशपुराण एवं जटासिंहनन्दि के वरांगचरित से भी हमारे उक्त कथन का सम्यक् समर्थन होता है।

यापनीय-परम्परा के ग्रन्थ वरांगचरित[८] (लगभग छठी-सातवीं शती) में नाना प्रकार के पुष्प, धूप और मनोहारी गंध से भगवान् की पूजा करने का उल्लेख है। ज्ञातव्य है कि इस ग्रन्थ में पूजा में वस्त्राभूषण समर्पित करने का उल्लेख भी है।

इसी प्रकार दूसरे यापनीय-ग्रन्थ पद्मपुराण में उल्लिखित है कि रावण स्नान कर धौतवस्त्र पहन, स्वर्ण और रत्ननिर्मित जिनबिम्बों की नदी के तट पर पूजा करने लगा। उसके द्वारा प्रयुक्त पूजा-सामग्री में धूप, चंदन, पुष्प और नैवेद्य का ही उल्लेख आया है, अन्य द्रव्यों का नहीं। देखें-

स्थापयित्वा घनामोदसमाकृष्टमधुव्रतैः
धूपैरालेपनैः पुष्पैर्मनोज्ञैर्बहुभक्तिभिः।।[९]

अत: स्पष्ट है कि प्रचलित अष्टद्रव्यों द्वारा पूजन करने की प्रथा यापनीय एवं दिगम्बर परम्परा में श्वेताम्बरों की अपेक्षा कुछ समय के पश्चात् ही प्रचलित हुई होगी।

दिगम्बर-परम्परा में सर्वप्रथम हरिवंशपुराण में जिनसेन ने पूजा सामग्री में चंदन, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य का उल्लेख किया है। इस उल्लेख में भी अष्टद्रव्यों का क्रम यथावत् नहीं है और न जल का पृथक् निर्देश ही है। अभिषेक में दुग्ध, इक्षुरस, घृत, दधि एवं जल का निर्देश है, पर पूजन-सामग्री में जल का कथन नहीं आया है। स्मरण रहे कि प्रक्षालन की प्रक्रिया का अग्रिम विकास अभिषेक है, जो अपेक्षाकृत परवर्ती है। पूजा के अष्टद्रव्यों का विकास भी शनैः-शनैः हुआ है, इस कथन की पुष्टि अमितगति-श्रावकाचार से भी होती है, क्योंकि इसमें गंध, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, और अक्षत इन छ: द्रव्यों का ही उल्लेख उपलब्ध होता है।

वरांगचरित, पद्मपुराण, पद्मनन्दिकृत पंचविंशति, आदिपुराण, हरिवंशपुराण, वसुनन्दिश्रावकाचार आदि ग्रंथों में इन पूजा-द्रव्यों का फलादेश भी है। यह माना गया है कि अष्टद्रव्यों द्वारा पूजा करने से ऐहिक और पारलौकिक अभ्युदयों की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार भावसंग्रह में भी अष्टद्रव्यों का पृथक्-पृथक् फलादेश बताया गया है।

डॉ० नेमिचन्दजी शास्त्री एवं मेरे द्वारा प्रस्तुत यह विवरण श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्पराओं में पूजा-द्रव्यों के क्रमिक विकास को स्पष्ट कर देता है।

श्वेताम्बर-परम्परा में पंचोपचारी पूजा से अष्टप्रकारी पूजा और उसी से सर्वोपचारी या सत्रहभेदी पूजा विकसित हुई। यह सर्वोपचारी पूजा वैष्णवों की षोडशोपचारीपूजा का ही रूप है। बहुत कुछ रूप में इसका उल्लेख राजप्रश्नीय एवं वरांगचरित[१०] में उपलब्ध है।

राजप्रश्नीयसूत्र में वर्णित पूजा-विधान

राजप्रश्नीयसूत्र-[११] में सूर्याभदेव द्वारा की गई जिन-पूजा का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्णन इस प्रकार है।- "सूर्याभदेव ने व्यवसाय-सभा में रखे हुए पुस्तकरत्न को अपने हाथ में लिया, हाथ में लेकर उसे खोला, खोलकर उसे पढ़ा और पढ़कर धार्मिक क्रिया करने का निश्चय किया, निश्चय करके पुस्तकरत्न को वापस रखा, रखकर सिंहासन से उठा और नन्दा नामक पुष्करिणी पर आया। नन्दा पुष्करिणी में प्रविष्ट होकर उसने अपने हाथ-पैरों का प्रक्षालन किया तथा आचमन कर पूर्णरूप से स्वच्छ और शुचिभूत होकर स्वच्छ श्वेत जल से भरी हुई भृंगार (झारी) तथा उस पुष्करिणी में उत्पन्न शतपत्र एवं सहस्रपत्र कमलों को ग्रहण किया, फिर वहाँ से चलकर जहाँ सिद्धायतन (जिनमंदिर) था, वहाँ आया। उसमें पूर्वद्वार से प्रवेश करके जहाँ देवछन्दक और जिन-प्रतिमा थी वहाँ आकर जिन-प्रतिमाओं को प्रणाम किया। प्रणाम करके लोममयी प्रमार्जनी हाथ में ली, प्रमार्जनी से जिन-प्रतिमा को प्रमार्जित किया। प्रमार्जित करके सुगन्धित जल से उन जिन-प्रतिमाओं का प्रक्षालन किया। प्रक्षालन करके उन पर गोशीर्ष चंदन का लेप किया। गोशीर्ष चंदन का लेप करने के पश्चात् उन्हें सुवासित वस्त्रों से पौंछा, पौंछकर जिन-प्रतिमाओं को अखण्ड देवदूष्य युगल पहनाया। देवदूष्य पहनाकर पुष्पमाला, गंधचूर्ण एवं आभूषण चढ़ाये। तदनन्तर नीचे लटकी लम्बी-लम्बी गोल मालाएँ पहनायीं। मालाएँ, पहनाकर पंचवर्ण के पुष्पों की वर्षा की। फिर जिन-प्रतिमाओं के समक्ष विभिन्न चित्रांकन किये एवं श्वेत तन्दुलों से अष्टमंगल का आलेखन किया। उसके पश्चात् जिन-प्रतिमाओं के समक्ष धूपक्षेप किया। धूपक्षेप करने के पश्चात् विशुद्ध, अपूर्व, अर्थसम्पन्न महिमाशाली १००८ छन्दों से भगवान् की स्तुति की । स्तुति करके सात-आठ पैर पीछे हटा। पीछे हटकर बाँया घुटना ऊँचा किया तथा दायाँ घुटना जमीन पर झुकाकर तीन बार मस्तक पृथ्वीतल पर नमाया। फिर मस्तक ऊँचा कर दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर अंजलि करके 'नमोत्थुणं अरहन्ताणं........ठाणं संपत्ताणं' नामक शक्रस्तव का पाठ किया। इस प्रकार अर्हन्त और सिद्ध भगवान् की स्तुति करके फिर जिनमंदिर के मध्य भाग में आया। उसे प्रमार्जित कर दिव्य जलधारा से सिंचित किया और गोशीर्ष चंदन का लेप किया तथा पुष्पसमूहों की वर्षा की। तत्पश्चात् उसी प्रकार उसने मयूरपिच्छि से द्वारशाखाओं, पुतलियों एवं व्यालों को प्रमार्जित किया तथा उनका प्रक्षालन कर उनको चंदन से अर्चित किया तथा धूपक्षेप करके पुष्प एवं आभूषण चढ़ाये। इसी प्रकार उसने मणिपीठिकाओं एवं उनकी जिन-प्रतिमाओं की, चैत्यवृक्ष की तथा महेन्द्र-ध्वजा की पूजा-अर्चना की। इससे स्पष्ट है कि राजप्रश्नीयसूत्र के काल में पूजा सम्बन्धी मन्त्रों के अतिरिक्त जिन-पूजा की एक सुव्यवस्थिति प्रक्रिया निर्मित हो चुकी थी। लगभग ऐसा ही विवरण वरांगचरित के २३वें सर्ग में भी है।

जैन तांत्रिक पूजा-विधानों की तुलना

इष्ट देवता की पूजा भक्तिमार्गीय एवं तांत्रिक साधना का भी आवश्यक अंग हैं- इन सम्प्रदायों में सामान्यतया पूजा के तीन रूप प्रचलित रहे हैं- १. पञ्चोपचार पूजा, २. दशोपचार पूजा और ३. षोडशोपचार पूजा।

पञ्चोपचार पूजा में गंध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य- ये पाँच वस्तुएँ देवता को समर्पित की जाती हैं। दशोपचार पूजा पादप्रक्षालन, अर्घ्यसमर्पण, आचमन, मधुपर्क, जल, गंध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्यसमर्पण इन दस प्रक्रियाओं द्वारा पूजा-विधि सम्पन्न की जाती है। इसी प्रकार षोडशोपचार पूजा में १. आह्वान, २. आसन-प्रदान ३, स्वागत, ४. पाद-प्रक्षालन, ५. आचमन, ६. अर्घ्य, ७. मधुपर्क, ८. जल, ९. स्नान, १०, वस्त्र ११, आभूषण, १२ गन्ध, १३. पुष्प, १४. धूप, १५. दीप और १६. नैवेद्य से पूजा की जाती है।

प्रकारान्तर से गायत्रीतंत्र में षोडपोपचार पूजा के निम्न अंग भी मिलते हैं-

१. आह्वान २. आसन-प्रदान, ३. पाद-प्रक्षालन, ४. अर्घ्यसमर्पण, ५. आचमन, ६. स्नान, ७. वस्त्रअर्पण, ८. लेपन, ९. यज्ञोपवीत, १० पुष्प, ११. धूप, १२. दीप (आरती) १३. नैवेद्य-प्रसाद, १४. प्रदक्षिणा १५. मंत्रपुष्प और १६ शय्या।

षोडशोपचार पूजा की उक्त दोनों सूचियों में मात्र नाम और क्रम का आंशिक अन्तर है। इस पञ्चोपचार, दशोपचार और षोडशोपचार पूजा के स्थान पर जैन-धर्म में अष्टप्रकारी और सत्रह भेदी पूजा प्रचलित रही है। पूजा-विधान के दोनों प्रकार पूजा के द्रव्यों की संख्या एवं पूजा के अंगों के आधार पर हैं। सिद्धान्ततः इनमें कोई भिन्नता नहीं है।

जैनों की सत्रहभेदी पूजा में निम्न विधि से पूजा सम्पन्न की जाती है-

१. स्नान, २. विलेपन, ३. वस्त्र-युगल-समर्पण ४. वासक्षेप-समर्पण, ५. पुष्पसमर्पण, ६. पुष्पमालासमर्पण, ७. पंचवर्ण की अंगरचना (अंगविन्यास), ८. गन्ध-समर्पण, ९. ध्वजा-समर्पण, १०. आभूषण-समर्पण, ११. पुष्पगृहरचना, १२. पुष्पवृष्टि १३. अष्ट-मंगल-रचना, १४. धूप-समर्पण, १५. स्तुति, १६. नृत्य और १७. वादित्र पूजा (वाद्य बजना)।

यहाँ दोनों परम्पराओं के पूजा-विधानों में जो बहुत अधिक समरूपता है, वह उनके पारस्परिक प्रभाव की सूचक है इनमें भी पञ्च के स्थान पर अष्ट और षोडश के स्थान पर सप्तदश उपचारों के उल्लेख यह बताते हैं कि जैनों ने हिन्दू-परम्परा से इसे ग्रहण किया है।

इसी प्रकार जहाँ तक पूजा के अंगों का प्रश्न है, जैन-परम्परा में भी हिन्दू तांत्रिक परम्पराओं के ही समान आह्वान, स्थापना, सन्निधिकरण, पूजन और विसर्जन की प्रक्रिया समान रूप से सम्पन्न की जाती है। इसमें देवता के नाम को छोड़कर शेष सम्पूर्ण मन्त्र भी समान ही हैं। पूजा-विधान की इन समरूपताओं का फलितार्थ यही है कि जैन-परम्परा इन विधि-विधानों के सम्बन्ध में हिन्दू-परम्परा से प्रभावित हुई है।

'राजप्रश्नीयसूत्र' के अतिरिक्त अष्टप्रकारी एवं सत्रह भेदी पूजा का उल्लेख आवश्यकनिर्युक्ति एवं उमास्वाति के 'पूजाविधि- प्रकरण' में भी उपलब्ध है। यद्यपि यह कृति उमास्वाति की ही है अथवा उनके नाम से अन्य किसी की रचना है, इसका निर्णय करना कठिन है। अधिकांश विचारक इसे अन्यकृत मानते हैं। इस पूजाविधि-प्रकरण में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह बताया गया है कि पश्चिम दिशा में मुख करके दन्तधावन करें फिर पूर्वमुख हो स्नानकर श्वेत वस्त्र धारण करें और फिर पूर्वोत्तर मुख होकर जिनबिम्ब की पूजा करें। इस प्रकरण में अन्य दिशाओं और कोणों में स्थित होकर पूजा करने से क्या हानियाँ होती हैं, यह भी बतलाया गया है। पूजाविधि की चर्चा करते हुए यह भी बताया गया है कि प्रात: काल वासक्षेप-पूजा करनी चाहिए। इसमें पूजा में जिनबिम्ब के भाल, कंठ आदि नव स्थानों पर चंदन के तिलक करने का भी उल्लेख है। इसमें यह भी बताया गया है कि मध्याह्नकाल में कुसुम से तथा संध्या को धूप और दीप से पूजा की जानी चाहिए। इसमें पूजा के लिए कीट आदि से रहित पुष्पों के ग्रहण करने का उल्लेख है। साथ-साथ यह भी बताया गया है कि पूजा के लिए पुष्प के टुकड़े करना या उन्हें छेदना निषिद्ध है। इसमे गंध, धूप, अक्षत, दीप, जल, नैवेद्य फल आदि अष्टद्रव्यों से पूजा का भी उल्लेख है। इस प्रकार यह ग्रंथ भी श्वेताम्बर जैन-परम्परा की पूजा-पद्धति का प्राचीनतम आधार कहा जा सकता है। दिगम्बर-परम्परा में जिनसेन के महापुराण में एवं यतिवृषभ की तिलोयपण्णत्ति में जिन-प्रतिमा की पूजा के उल्लेख हैं।

इस समग्र चर्चा में हमें ऐसा लगता है कि जैनपरम्परा में सर्वप्रथम धार्मिक अनुष्ठान के रूप में षडावश्यकों का विकास हुआ। उन्हीं षडावश्यकों में स्तवन या स्तुति का स्थान भी था। उसी से आगे चलकर भावपूजा और द्रव्यपूजा की कल्पना सामने आई। उसमें भी द्रव्यपूजा का विधान केवल श्रावकों के लिए हुआ। तत्पश्चात् श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परंपराओं में जिन-पूजा सम्बन्धी जो जटिल विधि-विधानों का विस्तार हुआ, वह भी ब्राह्मण-परम्परा का प्रभाव था। फिर आगे चलकर जिनमंदिर के निर्माण एवं जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विधि-विधान बने। पं० फूलचंदजी सिद्धान्तशास्त्री ज्ञानपीठ पूजांजलि की भूमिका में और स्व० डॉ० नेमिचंदजी शास्त्री ने अपने एक लेख 'पुष्पकर्म-देवपूजा: विकास एवं विधि' में इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि जैन-परंपरा में पूजा-द्रव्यों का क्रमश: विकास हुआ है। यद्यपि पुष्पपूजा प्राचीनकाल से प्रचलित है फिर भी यह जैन-परंपरा के आत्यन्तिक अहिंसा सिद्धान्त से मेल नहीं खाती है। एक ओर तो जैन पूजा-विधान पाठ में ऐसे हैं, जिनमें मार्ग में होने वाली एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा का प्रायश्चित्त हो, यथा-

ईर्यापथे प्रचलताद्य मया प्रमादात्
एकेन्द्रियप्रमुखजीवनिकाय बाधा।
निर्दर्तिता यदि भवेव युगान्तरेक्षा,
मिथ्या तदस्तु दुरितं गुरुभक्तितो मे।।

स्मरणीय है कि श्वे० परम्परा में चैत्यवंदन में भी 'इरियाविहि विराहनाये' नामक पाठ मिलता है- जिसका तात्पर्य भी चैत्यवंदन के लिए जाने में हुई एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा का भी प्रायश्चित्त किया जाता है। तो दूसरी ओर उन पूजा-विधानों में, पृथ्वी, वायु, अप अग्नि और वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा का विधान है, यह एक आन्तरिक असंगति तो है ही। यद्यपि यह भी सत्य है कि चौथी-पाँचवीं शताब्दी से ही जैन-ग्रंथों में इसका समर्थन देखा जाता है। सम्भवत: ईसा की छठी-सातवीं शती तक जैन-धर्म में पूजा-प्रतिष्ठा सम्बन्धी अनेक कर्मकाण्डों का प्रवेश हो गया था। यही कारण है कि आठवीं शती में हरिभद्र को इनमें कर्मकाण्डों का मुनियो के लिए निषेध करना पड़ा। ज्ञातव्य है कि हरिभद्र ने सम्बोधप्रकरण के कुगुरु अधिकार में चैत्यों में निवास, जिन-प्रतिमा की द्रव्यपूजा, जिन-प्रतिमा के समक्ष नृत्य, गान, नाटक आदि का जैन-मुनि के लिए निषेध किया है। यद्यपि पंचाशक में उन्होंने इन पूजा-विधानों को गृहस्थ के लिए करणीय माना है।

जैनधर्म का अनुष्ठानपरक जैन-साहित्य

अनुष्ठान सम्बन्धी विधि-विधानों को लेकर जैन-परंपरा के दोनों ही सम्प्रदायों में अनेक ग्रन्थ रचे गये हैं। इनमें श्वेताम्बर-परंपरा में उमास्वाति का 'पूजाविधिप्रकरण', पादलिप्तसूरि की 'निर्वाणकलिका' अपरनाम 'प्रतिष्ठा-विधान' एवं हरिभद्रसूरि का 'पंचाशकप्रकरण' प्रमुख प्राचीन ग्रन्थ कहे जाते हैं। हरिभद्र के १९ पंचाशकों में श्रावकधर्म पंचाशक, दीक्षा पंचाशक, वंदन पंचाशक, पूजा पंचाशक (इसमें विस्तार से जिनपूजा का उल्लेख है), प्रत्याख्यान पंचाशक, स्तवन पंचाशक, जिनभवननिर्माण पंचाशक, जिनबिम्बप्रतिष्ठा पंचाशक, जिनयात्रा विधान पंचाशक, श्रमणोपासकप्रतिमा पंचाशक, साधुधर्मपंचाशक, साधुसमाचारी पंचाशक, पिण्डविशुद्धि पंचााशक, शील-अंग पंचाशक, आलोचना पंचाशक, प्रायश्चित्त पंचाशक, दसकल्प पंचाशक, भिक्षुप्रतिमा पंचाशक, तप पंचाशक आदि हैं। प्रत्येक पंचाशक ५०-५० गाथाओं में अपने-अपने विषय का विवरण प्रस्तुत करता है। इस पर चन्द्रकुल के नवांगीवृत्तिकार अभयदेवसूरि का विवरण भी उपलब्ध है। जैन धार्मिक क्रियाओं के सम्बन्ध में एक दूसरा प्रमुख ग्रन्थ 'अनुष्ठानविधि' है। यह धनेश्वरसूरि के शिष्य चन्द्रसूरि की रचना है। यह महाराष्ट्री प्राकृत में रचित है तथा इसमें सम्यक्त्व-आरोपणविधि, व्रत-आरोपणविधि, षाण्मासिक सामायिक विधि, श्रावकप्रतिमावहनविधि, उपधानविधि, प्रकरणविधि, मालाविधि, तपविधि, आराधनाविधि, प्रव्रज्याविधि उपस्थापनाविधि, केशलोचविधि, पंचप्रतिक्रमणविधि, आचार्य उपाध्याय एवं महत्तरा पदप्रदानविधि, पोषधविधि, ध्वजरोपणविधि, कलशरोपणविधि आदि के साथ आत्मरक्षा कवच एवं सकलीकरण जैसी तान्त्रिक क्रियाओं के निर्देश मिलते हैं। इस कृति के पश्चात् तिलकाचार्य की 'समाचारी' नामक कृति भी लगभग इन्हीं विषयों का विवेचन करती है। जैन कर्मकाण्डों का विवेचन करने वाले अन्य ग्रन्थों में सोमसुन्दरसूरि का 'समाचारी शतक', जिनप्रभसूरि (वि०सं० १३६३) की 'विधिमार्गप्रपा, वर्धमानसूरि का 'आचारदिनकर', हर्षभूषणगणि (वि०सं० १४८०) का 'श्राद्धविधिविनिश्चय' तथा समयसुन्दर का 'समाचारी शतक' भी महत्त्वपूर्ण है। इनके अतिरिक्त प्रतिष्ठाकल्प के नाम से अनेक लेखों की कृतियाँ हैं, जिनमें जैन-परम्परा के अनुष्ठानों की चर्चा है। दिगम्बर-परम्परा में धार्मिक क्रियाकाण्डों को लेकर वसुनन्दि का 'प्रतिष्ठासारसंग्रह' (वि०सं० ११५०), आशाधर का 'जिनयज्ञकल्प' (सं० १२८५) एवं महाभिषेककल्प, सुमतिसागर का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'दसलाक्षणिकव्रतोद्यापन', सिंहनन्दी का 'व्रततिथिनिर्णय, जयसागर का 'रविव्रतोद्यापन', ब्रह्मजिनदास का 'जम्बूद्वीपपूजन', 'अनन्तव्रतपूजन', 'मेघामालोद्यापनपूजन' (१५वीं शती), विश्वसेन का षण्णवतिक्षेत्रपाल पूजन (१६वीं शती), बुधवीरु 'धर्मचक्रपूजन' एवं 'वृहद्धर्मचक्रपूजन' (१६वीं शती), सकलकीर्ति के 'पंचपरमेष्ठिपूजन', 'षोडशकारणपूजन' एवं 'गणधरवलयपूजन' (१६वीं शती) श्रीभूषण का 'षोडशसागारव्रतोद्यापन', नागनन्दि का 'प्रतिष्ठाकल्प' आदि प्रमुख कहे जा सकते हैं।

जैन पूजा-अनुष्ठानों पर तंत्र का प्रभाव

जैन-अनुष्ठानों का उद्देश्य तो लौकिक उपलब्धियों एवं विघ्न-बाधाओं का उपशमन न होकर व्यक्ति का अपना आध्यात्मिक विकास ही है। जैन साधक स्पष्ट रूप से इस बात को दृष्टि में रखता है कि प्रभु की पूजा और स्तुति केवल भक्त के स्वरूप या जिनगुणों की उपलब्धि के लिए है। आचार्य समन्तभद्र स्पष्ट रूप से कहते हैं कि हे नाथ! चूंकि आप वीतराग हैं, अत: आप अपनी पूजा या स्तुति से प्रसन्न होने वाले नहीं हैं और आप विवान्तवैर हैं इसलिए निन्दा करने पर भी आप अप्रसन्न होने वाले नहीं है। आपकी स्तुति का मेरा उद्देश्य तो केवल अपने चित्तमल को दूर करना है-

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ! विवान्तवैर।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः, पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः।।

इसी प्रकार एक गुजराती जैन-कवि कहता है-

अजकुलगतकेशरि लहेरे निजपद सिंह निहाल।
तिम प्रभुभक्ति भवि लहेरे जिन आतम संभार।।

जैन-परम्परा का उद्घोष है- 'वन्दे तद्गुणलब्धये' अर्थात् वन्दन करने का उद्देश्य प्रभु के गुणों की उपलब्धि करना है। जिनदेव की एवं हमारी आत्मा तत्त्वत: समान है, अत: वीतराग के गुणों की उपलब्धि का अर्थ है स्वरूप की उपलब्धि। इस प्रकार जैन-अनुष्ठान मूलत: आत्मविशुद्धि और स्वस्वरूप की उपलब्धि के लिए है। जैन-अनुष्ठानों में जिन गाथाओं या मन्त्रों का पाठ किया जाता है, उनमें भी अधिकांशत: जो पूजनीय के स्वरूप का ही बोध कराते हैं अथवा आत्मा के लिए पतनकारी प्रवृत्तियों का अनुस्मरण कर उनसे मुक्त होने की प्रेरणा देते हैं, जिनपूजा के विविध प्रकारों में जिन पाठों का पठन किया जाता है या जो स्तोत्र आदि प्रस्तुत किये जाते हैं, उनका मुख्य उद्देश्य आत्मविशुद्धि ही है। साधक आत्मा, आत्म-विशुद्धि में बाधक शक्तियों के निवर्तन के लिए ही धर्म-साधना करता है। वह धर्म को इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के शमन की साधना मानता है।

किन्तु जैसाकि हम पूर्व में बता चुके हैं मनुष्य की वासनात्मक स्वाभाविक प्रवृत्ति का यह परिणाम हुआ कि जैन-परम्परा में भी अनुष्ठानों का आध्यात्मिक स्वरूप पूर्णतया स्थिर न रह सका, उसमें विकृति आयी। जैन-धर्म का अनुयायी आखिर वही मनुष्य है, जो भौतिक जीवन में सुख-समृद्धि की कामना से मुक्त नहीं है। अत: जैन आचार्यों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे अपने उपासकों की जैन-धर्म में श्रद्धा बनाये रखने के लिए जैन-धर्म के साथ कुछ ऐसे अनुष्ठानों को भी जोड़ें जो अपने उपासकों के भौतिक कल्याण में सहायक हों। निवृत्तिप्रधान अध्यात्मवादी एवं कर्मसिद्धान्त में अटल विश्वास रखने वाले जैनधर्म के लिए यह न्याय-संगत तो नहीं था, फिर भी ऐतिहासिक सत्य है कि उसमें यह प्रवृत्ति विकसित हुई है।

यह हम पूर्व में कह चुके हैं कि जैन-धर्म का तीर्थंकर व्यक्ति के भौतिक कल्याण में साधक या बाधक नहीं हो सकता है, अत: जैन-अनुष्ठानों में जिनपूजा के साथ यक्ष-यक्षियों के रूप में शासनदेवता तथा देवी की कल्पना विकसित हुई और यह माना जाने लगा कि अपने उपास्य तीर्थंकर की अथवा अपनी उपासना से शासनदेवता (यक्ष-यक्षी) प्रसन्न होकर उपासक का सभी प्रकार से कल्याण करते हैं।

शासनरक्षक देवी-देवता के रूप में सरस्वती, अम्बिका, पद्मावती, चक्रेश्वरी, काली आदि अनेक देवियों तथा मणिभद्र, घण्टाकर्ण महावीर, पार्श्वयक्ष, आदि यक्षों, नवग्रहों, अष्ट दिक्पालों एवं अनेक क्षेत्रपालों (भैरवों) के पूजा-विधानों को जैन-परम्परा के स्थान मिला। इन सबकी पूजा के लिए जैनों ने विभिन्न अनुष्ठानों को किंचित् परिवर्तन के साथ हिन्दू तांत्रिक परम्परा से ग्रहण, कर लिया। भैरवपद्मावतीकल्प आदि ग्रन्थों से इसकी पुष्टि होती है। जैन पूजा और प्रतिष्ठा की विधि में तान्त्रिक परम्परा के अनेक ऐसे तत्त्व भी जुड़ गये जो जैन-परम्परा के मूलभूत मंतव्यों से भिन्न हैं। हम यह देखते हैं कि तन्त्र के प्रभाव से जैन-परम्परा में चक्रेश्वरी, पद्मावती, अम्बिका, घण्टाकर्ण महावीर, नाकोड़ा भैरव, भूमियाजी, दिक्पाल, क्षेत्रपाल, आदि की उपासना प्रमुख और तीर्थंकरों की उपासना गौण होती गई। हमें अनेक ऐसे पुरातत्त्वीय साक्ष्य मिलते हैं जिनके अनुसार जिन-मन्दिरों में इन देवियों की स्थापना होने लगी थी। जैन-अनुष्ठानों का एक प्रमुख ग्रन्थ 'भैरवपद्मावतीकल्प' है, जो मुख्यतया वैयक्तिक जीवन की विघ्न-बाधाओं के उपशमन और भौतिक उपलब्धियों के लिए विविध अनुष्ठानों का प्रतिपादन करता है। इस ग्रन्थ में वर्णित अनुष्ठानों पर जैनेत्तर-तन्त्र का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है जिसकी विस्तृत चर्चा आगे की गई है।

ईस्वी छठी शती से लेकर आज तक जैन-परम्परा के अनेक आचार्य भी शासनदेवियों, क्षेत्रपालों और यक्षों की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील देखे जाते हैं और अपने अनुयायियों को भी ऐसे अनुष्ठानों के लिए प्रेरित करते रहे हैं। जैन-धर्म में पूजा और उपासना का यह दूसरा पक्ष जो हमारे सामने आया, वह मूलत: तान्त्रिक परम्परा का प्रभाव ही है। जिनपूजा एवं अनुष्ठान विधियों में अनेक ऐसे मन्त्र मिलते हैं, जिन्हें ब्राह्मण-परम्परा के तत्सम्बन्धी मन्त्रों का मात्र जैनीकरण कहा जा सकता है। उदाहरण के रूप में जिस प्रकार ब्राह्मण-परम्परा में इष्ट देवता की पूजा के समय उसका आह्वान, स्थापन, विसर्जन आदि किया जाता है उसी प्रकार जैन-परम्परा में भी पूजा के समय जिन के आह्वान और विसर्जन के मन्त्र बोले जाते हैं- यथा-

ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिन् अत्र अवतर अवतर संवौषट्-आह्वानम्

ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिन् अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठ: ठ:- स्थापनम्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिन् अत्र मम सन्निहतो भव भव वषट्सन्निधायनम्

ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिन् स्वस्थानं गच्छ जः जः जः विसर्जनम्।

ये मन्त्र जैन-दर्शन की मूलभूत मान्यताओं के प्रतिकूल हैं, क्योंकि जहाँ ब्राह्मण-परम्परा का यह विश्वास है कि आह्वान करने पर देवता आते हैं और विसर्जन करने पर चले जाते हैं। वहाँ जैन-परम्परा में सिद्धावस्था को प्राप्त तीर्थंकर या सिद्ध न तो आह्वान करने पर उपस्थित हो सकते हैं और न विसर्जन करने पर जाते ही हैं। पं० फूलचन्दजी ने 'ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि' नामक पुस्तक की भूमिका में विस्तार से इसकी समीक्षा की है तथा आह्वान एवं विसर्जन सम्बन्धी जैन पूजा-मन्त्रों को ब्राह्मण-मन्त्रों का अनुकरण माना है। तुलना कीजिए-

आवाहनं नैव जानामि नैव जानामि पूजनम्।
विसर्जनं नैव जानामि क्षमस्व परमेश्वर ।।१।।
मन्त्रहीनं क्रियाहीनं द्रव्यहीनं तथैव च।
तत्सर्वं क्षम्यतां देव रक्ष रक्ष जिनेश्वर ।।२।।

-विसर्जनमंत्र।

इनके स्थान पर हिन्दू धर्म में ये श्लोक उपलब्ध होते हैं-

आवाहनं न जानामि न जानामि विसर्जनम्।
पूजनं नैव जानामि क्षमस्व परमेश्वरम् ।।१।।
मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं जनार्दन।
यत्पूजितं मया देव परिपूर्णं तदस्तु मे ।।२।।

इसी प्रकार अष्टद्रव्यपूजा एवं सत्तरह भेदी पूजा में सचित्त द्रव्यों का उपयोग, प्रभु को वस्त्राभूषण, गंध, माल्य, आदि का समर्पण; यज्ञ का विधान, विनायकयन्त्र-स्थापना, यज्ञोपवीतधारण आदि भी जैन-परम्परा के अनुकूल नहीं है। इधर जब तान्त्रिक साधना का प्रभाव बढ़ने लगा, तो उसमें भी इन पूजा-विधियों का प्रवेश हुआ। दसवीं शती के अनन्तर इन विधि-विधानों को इतना महत्त्व प्राप्त हुआ, फलतः पूर्व प्रचलित आध्यात्मिक उपासना गौण हो गयी। प्रतिमा के समक्ष रहने पर ही आह्वान, स्थापन, सन्निधीकरण, पूजन और विसर्जन क्रमशः पंचकल्याणकों की स्मृति के लिए व्यवहृत होने लगे। पूजा को वैयावृत्य का अंग माना जाने लगा तथा एक प्रकार से इसे 'आहारदान' के तुल्य स्थान प्राप्त हुआ। पूजा के समय सामायिक या ध्यान की मूलभावना में परिवर्तन हुआ। द्रव्यपूजा को अतिथि-संविभाग व्रत का अंग मान लिया गया। उसे गृहस्थ का एक अनिवार्य कर्तव्य बताया गया। यह भी हिन्दू-परम्परा की अनुकृति ही थी। जहाँ यह माना जाता हो कि तीर्थंकरों ने दीक्षा के समय सचित्तद्रव्यों, स्नान, वस्त्र, आभूषण, गंध, माल्य आदि का त्याग कर दिया था, मात्र यही नहीं जिस जैन-परम्परा में एक वर्ग ऐसा भी हो जो तीर्थंकर के कवलाहार का भी निषेध करता हो, वही परम्परा, तीर्थंकर की पूजा में वस्त्र, आभूषण, गंध, माल्य, नैवेद्य आदि अर्पित करे, यह क्या सिद्धान्त की विडम्बना नहीं हो जायेगी? मंदिर एवं जिनबिम्ब प्रतिष्ठा आदि से सम्बन्धित सम्पूर्ण अनुष्ठान जैन-परम्परा में ब्राह्मण-परम्परा की देन है और उसकी मूलभूत प्रकृति के प्रतिकूल कहे जा सकते हैं। वस्तुतः किसी भी परम्परा के लिए अपनी सहवर्ती परम्परा से पूर्णतया अप्रभावित रह पाना कठिन है और इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि जैन-परम्परा की पूजा अनुष्ठान विधियों में हिन्दू तान्त्रिक परम्परा का प्रभाव आया।

जैन-परम्परा के विविध पूजा-विधान

तन्त्र युग में जैन-परम्परा के विविध अनुष्ठानों में गृहस्थ के नित्यकर्म के रूप में सामायिक, प्रतिक्रमण आदि षडावश्यकों के स्थान पर जिनपूजा को प्रथम स्थान दिया गया। जैन-परम्परा में स्थानकवासी, श्वेताम्बर-तेरापंथ तथा दिगम्बर-तारणपंथ को छोड़कर शेष परम्पराएँ जिनप्रतिमा के पूजन को श्रावक का एक आवश्यक कर्तव्य मानती हैं। श्वेताम्बर-परम्परा में पूजा सम्बन्धी जो विविध अनुष्ठान प्रचलित हैं उनमें प्रमुख हैं- अष्टप्रकारीपूजा, स्नात्रपूजा या जन्मकल्याणकपूजा, पंचकल्याणकपूजा, लघुशान्तिस्नात्रपूजा, बृहद्शान्तिस्नात्रपूजा, नमिऊणपूजा, अर्हत्पूजा, सिद्धचक्रपूजा, नवपदपूजा, सत्तरहभेदीपूजा, अष्टकर्म की पूजा, अन्तरायकर्म की पूजा, भक्तामरपूजा आदि। दिगम्बर-परम्परा में प्रचलित पूजा अनुष्ठानों में अभिषेकपूजा, नित्यपूजा, देवशास्त्रगुरुपूजा, जिनचैत्यपूजा, सिद्धपूजा आदि प्रचलित हैं। इन सामान्य पूजाओं के अतिरिक्त पर्वदिनपूजा आदि विशिष्ट पूजाओं का भी उल्लेख हुआ है। पर्वपूजाओं में षोडशकारणपूजा, पंचमेरुपूजा, दशलक्षणपूजा, रत्नत्रयपूजा आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

दिगम्बर-परम्परा की पूजा-पद्धति में बीसपंथ और तेरहपंथ में कुछ मतभेद है। जहाँ बीसपंथ पुष्प आदि सचित्त द्रव्यों से जिनपूजा को स्वीकार करता है वहाँ तेरहपंथ सम्प्रदाय में उसका निषेध किया गया है। पुष्प के स्थान पर वे लोग रंगीन अक्षतों (तन्दुलों) का उपयोग करते हैं। इसी प्रकार जहाँ बीसपंथ में बैठकर वहीं तेरहपंथ में खड़े रहकर पूजा करने की परम्परा है।

यहाँ विशेषरूप से उल्लेखनीय यह है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के प्राचीन ग्रंथों में अष्टद्रव्यों से पूजा के उल्लेख मिलते हैं। यापनीय-ग्रंथ वारांगचरित (त्रयोविंशसर्ग) में जिनपूजा सम्बन्धी जो उल्लेख हैं वे श्वेताम्बर-परम्परा के राजप्रश्नीयसूत्र के पूजा सम्बन्धी उल्लेखों से बहुत कुछ मिलते है।

जैन पूजा-विधान की आध्यात्मिक प्रकृति

यह सत्य है कि जैन पूजा-विधान और धार्मिक अनुष्ठानों पर भक्तिमार्ग एवं तन्त्र साधना का व्यापक प्रभाव है और उनमें अनेक स्तरों पर समरूपताएँ भी हैं। किन्तु यह भी सत्य है कि इन पूजा-विधानों में भी जैनों की आध्यात्मिक जीवन-शैली स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है, क्योंकि उनका प्रयोजन भिन्न है। यह उनमें बोले जाने वाले मंत्रों से स्पष्ट हो जाता है-

"ॐ ह्रीं परम परमात्मने अनन्तानन्तज्ञानशक्तये जन्मजरामृत्यु-निवारणाय श्रीमद्जिनेन्द्राय जलं यजामहे स्वाहा।"

इसीप्रकारचन्दन आदि के समर्पण के समय जल के स्थान पर चन्दन आदि शब्द बोले जाते हैं, शेष मंत्र वही रहता है, किन्तु पूजा के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रयोजनभेद से इसका स्वरूप बदलता भी है। जैसे:-

ॐ ह्रीं अर्हं परमात्मने अन्तरायकर्म समूलोच्छेदाय श्रीवीर जिनेन्द्राय जलं यजामहे स्वाहा।

ॐ ह्रीं अर्हं परमात्मने अनन्तान्तज्ञानशक्तये श्री समकितव्रतदृढ करणाय/प्राणातिपातविरमणव्रतग्रहणाय जलं यजामहे स्वाहा।

इसी प्रकार अष्टद्रव्यों के समर्पण में भी प्रयोजन की भिन्नता परिलक्षित होती है:-

ॐ ह्रीं श्री जिनेन्द्राय जन्मजरामृत्यु विनाशाय जलं निर्वापमिति स्वाहा।
ॐ ह्रीं श्री जिनेन्द्राय भवतापविनाशाय चंदनं निर्वापमिति स्वाहा।
ॐ ह्रीं श्री जिनेन्द्राय अक्षयपदप्राप्तये अक्षतं निर्वापमिति स्वाहा।
ॐ ह्रीं श्री जिनेन्द्राय कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं निर्वापमिति स्वाहा।
ॐ ह्रीं श्री जिनेन्द्राय मोहांधकारविनाशाय दीपं निर्वापमिति स्वाहा।
ॐ ह्रीं श्री जिनेन्द्राय अष्टकर्मदहनाय धूपं निर्वापमिति स्वाहा।
ॐ ह्रीं श्री जिनेन्द्राय मोक्षफल प्राप्तये फलं निर्वापमिति स्वाहा।

इन पूजा मन्त्रों से यह सिद्ध होता है कि जैन-परम्परा से इन सभी पूजा-विधानों का अन्तिम प्रयोजन तो आध्यात्मिक विशुद्धि ही माना गया है। यह माना गया है कि जलपूजा आत्मविशुद्धि के लिए की जाती है। चन्दनपूजा का प्रयोजन कषायरूपी अग्नि को शान्त करना अथवा समभाव में अवस्थित होना है। पुष्पपूजा का प्रयोजन अन्तःकरण में सद्भावों का जागरण है। धूपपूजा कर्मरूपी इन्धन को जलाने के लिये है, तो दीपपूजा का प्रयोजन ज्ञान के प्रकाश को प्रकट करना है। अक्षतपूजा का तात्पर्य अक्षतों के समान कर्म के आवरण से रहित अर्थात् निरावरण होकर अक्षय पद प्राप्त करना है। नैवेद्यपूजा का तात्पर्य चित्त में आकांक्षाओं और इच्छाओं की समाप्ति है। इसी प्रकार फलपूजा मोक्षरूपी फल की प्राप्ति के लिये की जाती है। इस प्रकार जैन-पूजा की विधि में और हिन्दूभक्तिमार्गीय और तांत्रिकपूजा विधियों में बहुत कुछ समरूपता होते हुए भी उनके प्रयोजन भिन्न रूप में माने गये हैं। जहाँ सामान्यतया हिन्दू एवं तांत्रिकपूजा-विधियों का प्रयोजन इष्टदेवता को प्रसन्न कर उसकी कृपा से अपने लौकिक संकटों का निराकरण करना रहा है। वहाँ जैन पूजा-विधानों का प्रयोजन जन्म-मरण रूप संसार से विमुक्ति ही रहा। दूसरे, इनमें पूज्य से कृपा की कोई आकांक्षा भी नहीं होती है मात्र अपनी आत्मविशुद्धि की आकांक्षा की अभिव्यक्ति होती है, क्योंकि दैवीयकृपा (grace of God) का सिद्धान्त जैनों के कर्म-सिद्धान्त के विरोध में जाता है।

जैन पूजा-विधान और लौकिक एवं भैतिक मंगल की कामना

यहाँ भी ज्ञातव्य है कि तीर्थंकरों की पूजा-उपासना में तो यह आत्मविशुद्धिप्रधान जीवनदृष्टि कायम रही, किन्तु जिनशासन के रक्षक देवों की पूजा-उपसना में लौकिकमंगल और भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति की कामना किसी न किसी रूप में जैनों में भी आ गई। इस कथन की पुष्टि भैरवपद्मावती कल्प में पद्मावती के निम्न मन्त्र से होती है-[१२]

विविधदुःखविनाशी दुष्टदारिद्र्यपाशी
कलिमलभक्षाली भव्यजीवकृपाली।
असुरमदनिवारी देवनागेन्द्रनारी
जिनमुनिपदसेव्यं ब्रह्मपुण्याब्धिपूज्यम् ।।११।।

ॐ आँ क्रों ह्रीं मन्त्ररूपायै विश्वविघ्नहरणायै सकलजन-हितकारिकायै श्री पद्मावत्यै जयमालार्थं निर्वापामीति स्वाहा।

लक्ष्मीसौभाग्यकरा जगत्सुखकरा बन्ध्यापि पुत्रार्पिता
नानारोगविनाशिनी अघहरा (त्रि) कृपाजने रक्षिका।
रङ्कानां धनदायिका सुफलदा वाञ्छार्थिचिन्तामणिः
त्रैलोक्याधिपतिर्भवार्णवत्राता पद्मावती पातु वः ।।१२।।

इत्याशीर्वादः

स्वस्तिकल्याणभद्रस्तु क्षेमकल्याणमस्तु वः।
यावच्चन्द्रदिवानाथौ तावत् पद्मावतीपूजा ।।१३।।
ये जनाः पूजन्ति पूजां पद्मावती जिनान्विता।
ते जनाः सुखमायान्ति यावन्मेरुर्जिनालयः ।।१४।।

प्रस्तुत स्तोत्र में पद्मावती-पूजन का प्रयोजन वैयक्तिक एवं लौकिक एषणाओं की पूर्ति तो है ही, इससे भी एक कदम आगे बढ़कर इसमें तन्त्र के मारण, मोहन, वशीकरण आदि षट्कर्मों की पूर्ति की आकांक्षा भी देवी से की गई है। प्रस्तुत पद्मावतीस्तोत्र का निम्न अंश इसका स्पष्ट प्रमाण है-

ॐ नमो भगवति! त्रिभुवनवशंकारी सर्वाभरणभूषिते पद्मनयने! पद्मिनी पद्मप्रमे! पद्मकोशिनि! पद्मवासिनि! पद्महस्ते! ह्रीं ह्रीं कुरु कुरु मम हृदयकार्यं कुरु कुरु, मम सर्वशान्तिं कुरु कुरु, मम सर्वराज्यवश्यं कुरु कुरु, सर्वलोकवश्यं कुरु कुरु, मम सर्व स्त्रीवश्यं कुरु कुरु, मम सर्वभूतपिशाचप्रेतरोषं हर हर, सर्वरोगान् छिन्द छिन्द, सर्वविघ्नान् भिन्द भिन्द, सर्वविषं छिन्द छिन्द, सर्वकुरुमृगं छिन्द छिन्द, सर्वशाकिनीं छिन्द छिन्द, श्रीपार्श्वजिनपदाम्भोजभृङ्गि नमोदत्ताय देवी नमः। ॐ ह्राँ ह्रीं ह्रूँ ह्रौं ह्रः स्वाहा। सर्वजनराज्यस्त्रीपुरुषवश्यं सर्व २ ॐ आँ काँ ऐं क्लीं ह्रीं देवि! पद्मावति। त्रिपुरकामसाधिनी दुर्जनमतिविनाशिनी त्रैलोक्यक्षेभिनी श्रीपार्श्वनाथोपसर्गहारिणी क्लीं ब्लूं मम दुष्टान् हन हन, मम सर्वकार्याणि साधय साधय हुं फट् स्वाहा।

आँ क्रों ह्रीं क्लीं हसौं पद्मे! देवि! मम सर्वजगद्वश्यं कुरु कुरु, सर्वविघ्नान् नाशय नाशय, पुरक्षोभं कुरु कुरु, ह्रीं संवौषट् स्वाहा।

ॐ आँ क्रौं ह्रीं द्रां द्रीं क्लीं ब्लूं सः हल्व्यं पद्मावती सर्वपुरजनान् क्षोभय क्षोभय, मम पादयोः पातय पातय, आकर्षणीं ह्रीं नमः।

ॐ ह्रीं क्रौं अर्हं मम पापं फट् दह दह हन हन पच पच पाचय पाचय हं क्ष्मं क्ष्मां हं क्ष्वीं हंस क्ष्मं वंह्य यहः क्षां क्षीं क्षूं क्षें क्षैं क्षों क्षं क्षः क्षिं ह्राँ ह्रीं हं हे हों हौं हः हिः हिं द्रां द्रिं द्रावय द्रावय नमोऽर्हते भगवते श्रीमते ठः ठः मम श्रीरस्तु, पुष्टिरस्तु, कल्याणमस्तु स्वाहा।।

ज्वालामालिनीस्तोत्र

इससे यह फलित होता है कि तान्त्रिक साधना के षट्कर्मों की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धि के लिए भी जैन-परम्परा में मंत्र, जप, पूजा आदि प्रारम्भ हो गये थे। उपरोक्त पद्मावतीस्तोत्र के अतिरिक्त भैरवपद्मावतीकल्प में परिशिष्ट के रूप में प्रस्तुत निम्न ज्वालामालिनी मन्त्र स्तोत्र से भी इस कथन की पुष्टि होती है। यह स्तोत्र निम्न है-[१३]

ॐ नमो भगवते श्री चन्द्रप्रभजिनेन्द्राय शशाङ्कशङ्खगोक्षीरहारधवलगात्राय घातिकर्मनिर्मलोच्छेदनकराय जातिजरामरणविनाशनाय त्रैलोक्यवशङ्कराय सर्वासत्त्वहितङ्कराय सुरासुरेन्द्रमुकुट- कोटिघृष्टापादपीठाय संसारकान्तारोन्मूलनाय अचिन्त्यबलपराक्रमाय अप्रतिहतचक्राय त्रैलोक्यनाथाय देवाधिदेवाय धर्मचक्राधीश्वराय सर्वविद्यापरमेश्वराय कुविद्यानिधनाय,

तत्पादपङ्कजाश्रमनिषेविणि! देवि! शासनदेवते! त्रिभुवनसङ्क्षोभिणि! त्रैलोक्याशिवापहारकारिणि! स्थावरजङ्गमविषमविषसंहारकारिणि! सर्वाभिचारकर्माभ्यवहारिणि! परविद्याच्छेदिनि! परमन्त्रप्रणाशिनि! अष्टमहानागकुलोच्चाटनि! कालदुष्टमृतकोत्थापिनि! सर्वविघ्नविनाशिनी! सर्वरोगप्रमोचनि! ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्रचन्द्रादित्यग्रहनक्षत्रोत्पातमरणभयपीडासम्मर्दिनि! त्रैलोक्यमहिते! भव्यलोकहितङ्करि! विश्वलोकवशङ्करि! अत्र महाभैरवरुपधारिणी! महाभीमे! भीमरूपधारिणी! महारौद्रि! रौद्ररूपधारिणी! प्रसिद्धसिद्धविद्याधरयक्षराक्षसगरुडगन्धर्वकिन्नरकिं-पुरुषदैत्योरगरुद्रेन्द्रपूजिते! ज्वालामालाकरालितदिगन्तराले! महामहिषवाहने! खेटककृपाणत्रिशूलहस्ते! शक्तिचक्रपाशशरासनविशिखपविराजमाने! षोडशार्द्धभुजे! एहि एहि हल्व्यूँ ज्वालामालिनि! ह्रीं क्लीं ब्लूँ फट् द्राँ द्रीं ह्राँ ह्रीं ह्रूँ ह्रैं ह्रौं ह्रः ह्रीं देवान् आकर्षय, आकर्षय, सर्वदुष्टग्रहान् आकर्षय आकर्षय, नागग्रहान् आकर्षय आकर्षय, यक्षग्रहान् आकर्षय आकर्षय, राक्षसग्रहान् आकर्षय आकर्षय, गान्धर्वग्रान् आकर्षय आकर्षय, गान्धर्यग्रहान् आकर्षय आकर्षय, ब्रह्मग्रहान् आकर्षय आकर्षय, भूतग्रहान् आकर्षय आकर्षय, सर्वदुष्टान् आकर्षय आकर्षय, चोर चिन्ताग्रहान् आकर्षय आकर्षय, कटकट कम्पावय कम्पावय, शीर्षं चालय चालय, बाहुं चालय चालय, गात्रं चालय चालय, पाद्ं चालय चालय, सर्वाङ्गं चालय चालय, लोलय लोलय, धूनय धूनय, कम्पय कम्पय, शीघ्रमवतारं गृण्ह गृण्ह, ग्राहय ग्राहय, अचेलय अचेलय, आवेशय आवेशय इम्ल्व्यूं ज्वालामालिनि! ह्रीं क्लीं ब्लूँ द्राँ द्रीं ज्वल ज्वल र र र र र र रां प्रज्वल, प्रज्वल हूँ प्रज्वल प्रज्वल, धगधगधूमान्धकारिणी! ज्वल ज्वल, ज्वलितशिखे! देवग्रहान् दह दह, गन्धर्वग्रहान् दह दह, यक्षग्रहान् दह दह, भूतग्रहान् दह दहं, ब्रह्मराक्षसग्रहान् दह दह, व्यन्तरग्राहन् दह दह, नागग्रहान् दह दह, सर्वदुष्टग्रहान् दह दह, शतकोटिदैवतान् दह दह, सहस्रकोटिपिशाचराजान् दह दह, घे घे स्फोटय स्फोटय, मारय मारय, दहनाक्षि! प्रलय प्रलय, धगधगितमुखे! ज्वालामालिनी! ह्राँ ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः सर्वग्रहहृदयं दह दह, पच पच, छिन्द छिन्द भिन्धि भिन्धि हः हः हाः हाः हेः हेः हुं फट् फट् घे घे क्ष्म्ल्व्यूँ क्ष्राँ क्ष्रीं क्ष्रैं क्ष्रौं क्ष्रः स्तम्भय स्तम्भय, हा पूर्व बन्धय बन्धय, दक्षिणं बन्धय बन्धय, पश्चिमं बन्धय बन्धय, उत्तरं बन्धय बन्धय, भ्म्ल्व्यूँ भ्राँ भ्रीं भ्रूँ भ्रौं भ्रः ताडय ताडय, म्म्ल्व्यूँ म्राँ म्री म्रूँ म्रौं म्रः नेत्रे यः स्फोटय स्फोटय, दर्शय दर्शय, ह्ल्व्यूँ प्राँ प्रीं प्रूँ प्रौं प्रः प्रेषय प्रेषय, घ्म्ल्व्यूँ घ्राँ घ्रीं घ्रूँ घ्रौं घ्रः जठरं भेदय भेदय, झ्म्ल्व्यूँ झ्राँ झ्रूं झ्रीं झ्रौं झ्रः मुष्टिबन्धेन बन्धय बन्धय, ख्म्ल्व्यूँ ख्राँ ख्रीं ख्रूँ ख्रौं ख्रः ग्रीवां भञ्जय भञ्जय, छ्म्ल्व्यूँ छ्राँ छ्रीं छ्रूँ छ्रौं छ्रः अन्तराणि छेदय छेदय, ठ्म्ल्व्यूँ ठ्रां ठ्रूँ ठ्रौं ठ्रः महाविद्यापाषाणास्त्रैः हन हन, ब्म्ल्व्यूँ ब्राँ ब्रीं ब्रूँ ब्रौं ब्रः समुद्रे! जृम्भय जृम्भय, झ्राँ झ्रः भ्राँ डाँ भ्रः सर्वडाकिनीः मर्दय मर्दय, सर्वयोगिनीः तर्जय तर्जय, सर्वशत्रून् ग्रस ग्रस, खं खं खं खं खं खं खादय खादय, सर्वदैत्यान् विध्वंसय विध्वंसय सर्वमृत्यून् नाशय नाशय, सर्वोपद्रव महाभय स्तम्भय स्तम्भय, दह २ पंच २ मथ २ययः २ धम २ धरू २ खरू २ खङ्गरावणसुविधा धातय २ पातय २ सच्चन्द्रहासशस्त्रेण छेदय २ भेदय २ झरू २ छरू २ हरू २ फट् २ घे हाँ हाँ आँ क्रों क्ष्वीं ह्रीं क्लीं ब्लूँ द्रां द्रीं क्रों क्षीं क्षीं क्षीं ज्वालामालिनी आज्ञापयति स्वाहा ।।इति सर्वरोगहरस्तोत्रम्।।

इससे स्पष्ट है कि जैन-परम्परा ने किन्हीं स्थितियों में हिन्दू तान्त्रिक परम्परा का अन्धानुकरण भी किया है और अपने पूजा-विधान में ऐसे तत्त्वों को स्थान दिया है, जो उसकी आध्यात्मिक, निवृत्तिप्रधान और अहिंसक दृष्टि के प्रतिकूल हैं, फिर भी इतना अवश्य है कि इस प्रकार पूजा-विधान तीर्थंकरों से सम्बन्धित न होकर प्रायः अन्य देवी-देवताओं से ही सम्बन्धित है।

प्रस्तुत स्तोत्र की भी यही विशेषता है कि इसके प्रारम्भ में जिनेन्द्र की स्तुति करते हुए उनमें आध्यात्मिक विकास की कामना की गई है। लौकिक आकांक्षाओं की पूर्ति की कामना अथवा मारण, मोहन, वशीकरण आदि की सिद्धि की कामना तो मात्र उनकी शासन-देवी ज्वालामालिनी से की गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि परवर्ती जैनाचार्यों ने भी तीर्थंकर-पूजा का प्रयोग तो आत्मविशुद्धि ही माना है, किन्तु लौकिक एषणाओं की पूर्ति के लिए यक्ष-यक्षी, नवग्रह, दिक्पाल एवं क्षेत्रपाल (भैरव) की पूजा सम्बन्धी विधान भी निर्मित किये हैं। यद्यपि ये सभी पूजा-विधान हिन्दू-परम्परा से प्रभावित हैं और उनके समरूप भी हैं।

पूजा-विधानों के अतिरिक्त अन्य जैन-अनुष्ठानों में श्वेताम्बर परम्परा में पर्युषणपर्व, नवपदओली, बीस स्थानक की पूजा आदि सामूहिक रूप से मनाये जाने वाले जैन-अनुष्ठान हैं। उपधान नामक तप-अनुष्ठान भी श्वेताम्बर-परम्परा में बहुप्रचलित हैं। आगमों के अध्ययन एवं आचार्य आदि पदों पर प्रतिष्ठित होने के लिए भी श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन-संघ में मुनियों को कुछ अनुष्ठान करने होते हैं, जिनको सामान्यतया 'योगोद्वहन एवं सूरिमंत्र की साधना कहते हैं। विधिमार्गप्रपा में दशवैकालिकसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र, आचारंगसूत्र, सूत्रकृतांगसूत्र, स्थानांगसूत्र, समवायांगसूत्र, निशीथसूत्र, भगवतीसूत्र आदि आगमों के अध्ययन सम्बन्धी अनुष्ठानों एवं कर्मकाण्डों का विस्तृत विवरण उपलब्ध है।

दिगम्बर-परम्परा में प्रमुख अनुष्ठान या व्रत निम्न हैं- दशलक्षणव्रत, अष्टाह्निकाव्रत, द्वारावलोकनव्रत, जिनमुखावलोकनव्रत, जिनपूजाव्रत, गुरुभक्ति एवं शास्त्रभक्तिव्रत, तपांजलिव्रत, मुक्तावलीव्रत, कनकावलिव्रत, एकावलिव्रत, द्विकावलिव्रत, रत्नावलीव्रत, मुकुटसप्तमीव्रत, सिंहनिष्क्रीडितव्रत, निर्दोषसप्तमीव्रत, अनन्तव्रत, षोडशकारणव्रत, ज्ञानपच्चीसीव्रत, चन्दनषष्ठीव्रत, रोहिणीव्रत, अक्षयनिधिव्रत, पंचपरमेष्ठिव्रत,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वार्थसिद्धिव्रत, धर्मचक्रव्रत, नवनिधिव्रत, कर्मचूरव्रत, सुखसम्पत्तिव्रत, इष्टासिद्धिकारकनि:शल्य अष्टमीव्रत आदि इनके अतिरिक्त दिगम्बर-परम्परा में पंचकल्याण बिम्बप्रतिष्ठा, वेदीप्रतिष्ठा एवं सिद्धचक्र-विधान, इन्द्रध्वज-विधान, समवसरण-विधान, ढाई-द्वीप-विधान, त्रिलोक-विधान, वृहद् चारित्रशुद्धि-विधान, महामस्तकाभिषेक आदि ऐसे प्रमुख अनुष्ठान हैं जो कि वृहद् स्तर पर मनाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त पद्मावती आदि देवियों एवं विभिन्न यक्षों, क्षेत्रपालों-भैरवों आदि के भी पूजा-विधान जैन-परम्परा में प्रचलित हैं। जिन पर तन्त्र-परम्परा का स्पष्ट प्रभाव है।

मन्दिरनिर्माण तथा जिनबिम्बप्रतिष्ठा के सम्बन्ध में जो भी अनेक जटिल विधि-विधानों की व्यवस्था जैन-संघ में आई है और इस सम्बन्ध में प्रतिष्ठाविधि, प्रतिष्ठातिलक या प्रतिष्ठाकल्प आदि अनेक ग्रंथों की रचना हुई है वे सभी हिन्दू तान्त्रिक परम्परा से प्रभावित हैं। वस्तुत: सम्पूर्ण जैन-परम्परा में मृत और जीवित अनेक अनुष्ठानों पर किसी न किसी रूप में तन्त्र का प्रभाव है जिनका समग्र तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक विवरण तो किसी विशालकाय ग्रंथ में ही दिया जा सकता है। अत: इस विवेचन को यही विराम देते हैं।

सन्दर्भ

१. उत्तराध्ययनसूत्र, संपा०- साध्वी चन्दना, प्रका०- वीरायतन प्रकाशन, आगरा, १९७२, १२/४०-४४.

२. वही, १२/४६

३. गीता, संपा०- डब्ल्यू, डी०पी०, आक्सफोर्ड, १९५३, ४/२६-३३

४. मूलाचार, वट्टकेराचार्य, प्रा०- भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, १९८४-१९९२.

५. आवश्यकनिर्युक्ति, भद्रबाहु, प्रका०, आगमोदय समिति, वी०नि०सं० २४५४, १२२०-२६, १५६-६१.

६. रयणसार, संपा०- डा० देवेन्द्र कुमार शास्त्री, प्रका०- श्री वीरनिर्वाण ग्रंथ प्रकाशन समिति, इन्दौर, वी०नि०सं० २५९०.

७. भारतीय संस्कृति के विकास में जैन-वाङ्मय का अवदान, डॉ० नेमिचन्द शास्त्री, प्रका०- अ०भा० जैन विद्वत् परिषद्, सागर १९८२, पृष्ठ-३८७।

८. वरांगचरित, संपा०, ए०एन० उपाध्ये, माणिकचंद दिग० जैन ग्रंथमाला समिति, मुम्बई वि०सं०१९८४, २३/६१-८३

९. पद्मपुराण, संपा०- पन्नालाल जैन, प्रका० भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९४४, १०/८९

१०. वरांगचरित, संपा०- एम०एन० उपाध्ये, प्रका०- माणिकचंद दिगम्बर जैन ग्रंथमाला समिति, मुंबई, वि०सं० १९८४,२३/६१-८३

११. राजप्रश्नीयसूत्र, संपा०- मधुकरमुनि, प्रका०- श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८२, २००

१२. भैरवपद्मावतीकल्प, संपा० प्रो० के०बी० अभ्यंकर

१३. वही, परिशिष्ट-२५, पृष्ठ १०२-१०३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org